द्वितीय अध्याय

आलोच्य नाटक - 'कोणार्क', 'पहला राजा' और 'शारदीया' नाटकों का वस्तुशिल्प।

आलोच्य नाटकों का वस्तुशिल्प

मानव की हृदयगत अभिव्यक्ति के सशक्त और प्रभावपूर्ण साहित्यांगों में नाटक मूर्धन्य स्थान का अधिकारी है। हमारे आचार्यों के कथन के अनुसार 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' अर्थात काव्यों में नाटक ही सबसे सुंदर हैं, इस विधान में भी यही प्रतिध्वनि निकलती है। समस्त साहित्यांगों में केवल नाटक ही कला और साहित्य के अंतर्गत आनेवाले सभी रूपों, नृत्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य, मूर्ति, कविता, उपन्यास, कहानी एवं गद्य गीत प्रभृति का सारसंगम रूप है। इसलिए सभी प्रकार के साहित्य की अपेक्षा नाटक साहित्य अपना एक अलग अस्तित्व रखता है।

नाटकों का शिल्पगत अध्ययन करते वक्त नाटकों का वस्तुशिल्प, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, प्रतिपाद्य, अभिनेता, देशकाल वातावरण तथा भाषाशैली इन तत्त्वों का समाविष्ट किया जाता है।

''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक''[1] अर्थात् वस्तु, नेता और रस ये तीन तत्त्व माने हैं। गुलाबराय ने वृत्ति को पाँचवा तत्त्व माना है। उपर्युक्त तत्त्वों के आधार पर आलोच्य नाटकों का अध्ययन किया है।

प्रस्तुत अध्याय में आलोच्य (कोणार्क, पहला राजा, शारदीया) नाटकों का वस्तुशिल्प/ कथावस्तु प्रस्तुत की है।

कथावस्तु -

नाटक की मूल कथा एवं मूल कथा से संबंध रखनेवाली समस्त घटनाओं को कथावस्तु कहते हैं - ''कथानक नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि जिस प्रकार आधार के बिना एक स्तंभ भी खड़ा नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार नाटक की रचना के लिए भी थोड़ा या अधिक कथा का आधार नितांत आवश्यक है।''[2] अरस्तू ने तो कथावस्तु को नाटक की आत्मा कहा है।

अ. वस्तु के आधार -

कथावस्तु के स्त्रोत या आधार के विचार से तीन भेद किए जाते हैं -

1. प्रख्यात

2. उत्पाद्य
3. मिश्र।

1. प्रख्यात -

जिस कथावस्तु का आधार इतिहास पुराण या परंपरा से चली आती जनश्रुति होती है उसे प्रख्यात कथावस्तु कहते हैं।

2. उत्पाद्य -

जो कथावस्तु नाटककार की कल्पना की उपज होती है उसे उत्पाद्य वस्तु कहते हैं, इसे काल्पित कथा वस्तु भी कहते हैं।

3. मिश्र -

मिश्र कथावस्तु में इतिहास और कल्पना दोनों प्रकार की कथावस्तु का संमिश्रण होता है।

अरस्तू ने भी कथावस्तु के तीन आधार बताए हैं -

1. दंतकथा
2. कल्पना
3. इतिहास।

आ. वस्तु के प्रकार -

कथावस्तु दो प्रकार की होती है -

1. अधिकारिक
2. प्रासंगिक।

अधिकारिक कथावस्तु का संबंध नाटक के नायक के साथ होता है। इसका संबंध फलप्राप्ति के कार्य से है। जैसे रामायण में राम की कथा।

गौण कथा को प्रासंगिक कथा कहते हैं। यह मुख्य कथा की सहायिका और पोषिका होती है। प्रासंगिक कथा के दो भेद होते हैं - पताका और प्रकरी। मुख्य कथा के साथ दूर तक

चलनेवाली कथा पताका कहलाती है और मुख्य कथा के बहुत कम अंश में व्याप्त रहनेवाली कथाएँ प्रकरी कहलाती हैं।

इ. कथावस्तु के रूप -

नाटक में आए समस्त कथानक को रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता अभिनय की दृष्टि से कथावस्तु के दो रूप होते हैं -

1. वाच्य
2. सूच्य।

रसहीन एवं रंगमंच के अयोग्य वस्तुओं की केवल सूचना दे दी जाती है। उनका अभिनय नहीं होता। मृत्यु, राष्ट्र-विप्लव, स्नान, भोजन आदि सूच्य विषय हैं।

सूच्य कथावस्तु के साधनों को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। ये पाँच माने गए हैं।

i. विष्कभंक -

इसके द्वारा अंक के आरंभ में कथानक की सूचना दी जाती है।

ii. प्रवेशक -

इसका प्रयोग दो अंक के बीच में होता है इसके द्वारा भूत और भावी कथाओं की सूचना मिलती है।

iii. चूलिका -

जहाँ नेपथ्य के पीछे से उत्तम मध्यम या अधम श्रेणी के पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है वहाँ चूलिका होती है।

iv. अंकावतार -

जहाँ बिना पात्रों को बदले हुए ही पहले अंक में काम करनेवाले पात्र बाहर जाकर फिर रंगमंच पर आ जाते हैं और आगेवाले अंक की सूचना देते हैं वहाँ अंकावतार होता है।

v. अंकमुख या अंकास्य -

जहाँ किसी अंक के अभिनय की समाप्ति पर आगे आनेवाले अंक की कथा की सूचना दी जाती है, वहाँ पर अंकमुख या अंकास्य होता है।

नाटक की प्रधान कथावस्तु अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी प्रयोजन लक्ष्य व उद्देश्य को लेकर चलती है। आचार्यों ने नाटक के इस प्रयोजन व लक्ष्य की गतिविधि एवं निर्माण के सूचक पाँच चमत्कार युक्त अंश यहाँ बताए हैं, जिन्हें हम अर्थप्रकृतियाँ कहते हैं वे निम्नलिखित हैं -

i. बीज -

मुख्य फल के हेतु वह कथाभाग जो आरंभ में अत्यंत स्वल्प मात्रा में होता है परंतु क्रमशः विस्तृत होता है बीज कहलाता है।

ii. बिंदु -

प्रधान कथा का बीज के द्वारा सूत्रपात हो जाने पर जो भाग कथा को आगे बढ़ाता है वह बिंदु कहलाता है।

iii. पताका -

मुख्य कथा के साथ दूर तक चलनेवाली प्रासंगिक कथा पताका कहलाती है।

iv. प्रकरी -

मुख्य कथा के बहुत कम अंश में व्याप्त रहनेवाली कथाएँ प्रकरी कहलाती हैं।

v. कार्य -

जिसकी सिद्धि के लिए समस्त प्रयास होते रहे हैं और जो कथावस्तु में अभीष्ट है वही कार्य है।

नाट्यशास्त्र की भाषा में इतिवृत्त के फल को कार्य कहते हैं और इस कार्य का फैलाव संपूर्ण रचना में होता है। यह कार्य पाँच अवस्था में प्रकट होता जिन्हें कार्यावस्थाएँ कहते हैं -

i. आरंभ -

फलप्राप्ति के लिए जहाँ उत्सुकता प्रकट की जाती है उसे आरंभ कहते हैं।

ii. प्रयत्न -

फलप्राप्ति के लिए शिघ्रतापूर्वक उद्योग किया जाता है वह प्रयत्न है।

iii. प्राप्त्याशा -

जहाँ आशंका और बाधाओं के साथ-साथ किंचित फलप्राप्ति की आशा होती है वह प्राप्त्याशा है।

iv. नियताप्ति -

इस में रूकावटों के दूर होने पर फल की प्राप्ति का निश्चय होता है।

v. फलागम -

जिसमें उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है और सभी अभिलाषित फल प्राप्त हो जाते हैं वह फलागम की अवस्था है।

अर्थ प्रकृतियों और फलागम को जोड़ने के लिए संधियों का उपयोग किया जाता है। आचार्यों ने इन संधियों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है - भरतमुनि के अनुसार कथानक यदि नाटक का शरीर है तो पाँच संधियाँ शरीर के पाँच भाग हैं। दशरूपककार ने संधि शब्द का अर्थ 'संधान करना' किया है। संधियों के पाँच भेद हैं -

i. मुख -

जहाँ प्रारंभ नामक अवस्था के साथ संयोग होने से अनेक अर्थों एवं रसों के व्यंजक बीज (अर्थ प्रकृति) की उत्पत्ति हो वह मुख संधि है।

ii. प्रतिमुख -

इसमें मुख संधि में प्रकट हुआ बीज कुछ लक्ष्य और अलक्ष्य रूप में विकसित होता हुआ जान पड़ता है। यहाँ 'प्रयत्न' नामक अवस्था के साथ 'बिंदु' नामक अर्थ प्रकृति कार्य व्यापार को अग्रेसर

करती है।

iii. गर्भ -

इसमें प्रतिमुख संधि में कुछ प्रकाशित बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है।

iv. विमर्श -

इसमें ह्रदय मंथन संघर्ष और विमर्श की दशाएं उपस्थित होती है अत: इस का नाम विमर्श है।

v. निर्वहण संधि -

इसमें चारों संधियों के वर्णित अर्थों का समाहार हो जाता है और मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है।

इस प्रकार कार्यव्यापार की दृष्टि से कथानक की पाँच अवस्थाएँ पाँच प्रकृतियाँ और इनके योग से बनी पाँच संधियाँ होती है।

कथावस्तु -

1. ***कोणार्क -***

नाटक की कथावस्तु अत्यंत संक्षिप्त है। इसका संबंध ऐतिहासिक घटना, प्रसंग से है। लेकिन नाटककार ने कहा है कि उन्होंने इस नाटक में इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं की बल्कि इतिहास का सहारा लिया है।

उत्कल नरेश नरसिंहदेव की इच्छा पूरी करने के लिए शिल्पी विशु अपने बारह सौ शिल्पी साथियों के साथ पिछले बारह वर्षों से मंदिर को बनाने का काम कर रहे हैं। वह मंदिर है कोणार्क के सूर्यदिवता का। प्रधान शिल्पी विशु इस बात को लेकर चिंतित है कि बार-बार प्रयास करने के बाद भी मंदिर का कलश स्थापित नहीं हो पाता। मंदिर के शीर्ष पर रखी हुई शिलाएँ तुरंत फिसलकर नीचे आती हैं। बारह सौ शिल्पी दस दिनों तक लगातार चेष्टा करने के बाद भी वह कलश स्थापित करने में कामयाब नहीं होते। उस वक्त विशु सौम्यश्रीदत्त से कहता है - ''कह नहीं सकता पर एक बात अवश्य

है। हमने पत्थर में जान डाल दी है। उसे गति दे दी है। वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते, पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है। लेकिन..... लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से। मुझे लगता है जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है।''[3]

उधर नरसिंहदेव बंगाल में यवनों को पराजित करने के लिए गए हैं। उसके बाद लौटनेवाले ही हैं। बीच में ही राजीव एक सोलह वर्षीय किशोर शिल्पी की मुलाकात प्रधान शिल्पी विशु के साथ करवाता है। इससे पहले नाटककार ने विशु और सौम्यश्रीदत्त के वार्तालाप द्वारा विशु के प्रेम की कहानी बताई है। विशु अपने गाँव के हाट को आनेवाली सारिका नाम की युवती से प्यार करता है, लेकिन वह एक बच्चे की माँ बननेवाली है यह बात जिस वक्त उसे मालूम हो जाती है उसी वक्त विशु अपने कुल और कुटुंब के भय के कारण उसे छोड़कर दूर भूवनेश्वर में देव मंदिर में कला आँचल में अपना मुँह छिपाने आता है।

महाराज नरसिंहदेव की अनुपस्थिति में महामात्य राजराज चालुक्य के हाथों में शासन की बागड़ोर आती है। वह राज्य की प्रजा पर, शिल्पियों पर अन्याय, अत्याचार शुरू करता है। सारे राज्य में अकाल पड़ता है। महामात्य चालुक्य शिल्पियों के पास आकर उन्हें धमकी देता है कि आज से एक सप्ताह के अंदर यदि कोणार्क देवायल पूरा नहीं हुआ तो तुम लोगों के हाथ काट दिए जाएंगे। कलश स्थापन में चितिंत विशु के साथ शुरू के दृश्य में इस प्रकार गंभीर घटनाएं घटती हैं।

कलश स्थापन में असफल विशु को धर्मपद पूरे विश्वास के साथ यह आश्वासन देता है कि एक सप्ताह में वह कलश प्रतिष्ठित कर देगा। बदले में पुरस्कार स्वरूप विशु उसे अपना पद अपने सारे अधिकार उस दिन उसे देगा जिस दिन मंदिर का अभिषेक महाराज के समक्ष होगा।

प्रथम अंक में दो महत्त्वपूर्ण सूचनाएं संवादों द्वारा स्पष्ट होती है : प्रथम है नाटकीय विड़ंबना के रूप में किसी ज्योतिषी की भविष्यवाणी का राजीव द्वारा किया उल्लेख कि मंदिर पूरा होते ही मंदिर अकाश में उड़ जाएगा और दूसरी सूचना महाशिल्पी विशु स्वयं देते हैं कि मंदिर की मूर्ति निराधार इसलिए लटकी है कि चारो तरफ चुंबक का बराबर आकर्षण है और जैसे ही बीचवाला चुंबक हटाया जाएगा मूर्ति के साथ-साथ मंदिर की शिलाएँ और स्तंभ वैसे ही गिर पड़ेंगे जैसे भूकंप आया हो।'

दूसरे अंक का प्रारंभ मंदिर में व्याप्त हर्ष और उत्साह के वातावरण में होता है। कलश प्रतिष्ठित हो चुका है। प्रतिस्थापन एवं अभिषेक के अवसर पर अपनी सेना बंगाल में छोड़कर नरसिंहदेव अकेले दौड़े आए हैं। प्रसन्नचित और आनंदित होकर जब वे महाशिल्पी को सम्मानित करना चाहते हैं, अपने हाथ में भव्य रत्न-माला लेकर वे कहते - ''महाशिल्पी विशु, आगे बढ़ो और यह रत्नमाला हमारे हाथों से अपने-''[4]

उस समय विशु उनसे क्षमा याचना कर इस सम्मान और पुरस्कार का अधिकारी धर्मपद है यह बताते हुए पिछला प्रसंग सुनाते हैं, अपने वचन की बात बताते हैं। नरसिंहदेव सारा वृत्तांत सुनते हैं और उस शिल्पी का उचित सम्मान करना चाहते हैं। जिसका लोहा महाशिल्पी भी मानते हैं।

महाराज के समक्ष बड़े कौशल से राजराज चालुक्य द्वारा शिल्पियों पर किए गए अत्याचारों का वृत्तांत सुनाया जाता है। महाराज सारी बातें सुनकर मर्माहत होते हैं और अपने रहस्याधिकारी महेंद्र को आदेश देते हैं कि शिल्पियों का वेतन तथा उनके पुरस्कार अविलंब बांट दिए जाए और सैनिकों द्वारा कब्जा की गई उनकी जमीन आजाद कर दी जाए।

शिल्पियों पर किए अत्याचार उनके कष्ट भय की बात महाराज से करने में महशिल्पी एवं अन्य लोग इसलिए कतराते रहे कि चालुक्य सारे आदेश महाराज के नाम पर देता रहा था। इसलिए मन ही मन सभी यह समझते रहे कि महाराज की सहमति से ही सारे अत्याचार संभव हुए हैं। महाराज से छल करके इतनी मनमानी और इतना अत्याचार करने का साहस चालुक्य में नहीं। लेकिन तुरंत ही पता चलता है कि महामात्य की महत्त्वाकांक्षा का कोई अंत नहीं था। उसने महाराज के साथ कूटनीति अपनाई थी। महाराज के साथ मंदिर की ओर आते हुए रथ धूरी टूट जाने का बहाना करता है और महाराज आगे जाते ही पीछे से महामात्य चालुक्य अपनी दंड़पाशिक सेना लेकर मंदिर को चारों ओर घेर लेता है और शैवालिक को अपना दूत बनाकर नरसिंहदेव को अधीनता स्वीकार करने का संदेश देता है।

मंदिर में उक्त बातचीत के प्रसंग में लिप्त सभी व्यक्ति अंचभित हो उठते हैं। शैवालिक की सारी बातें उनकी समझ में आती हैं। महाराज को अपराधी समझ रहे सभी व्यक्ति तुरंत समझ जाते हैं कि महाराज निर्दोष हैं और चालुक्य ने यह सारा षड़यंत्र रचाया है। महाराज नरसिंहदेव ने भी स्थिति की भयंकरता समझी झटपट प्रतिरोध की तैयारियाँ शुरू की। इस समय धर्मपद ने शैवालिक को दिया उत्तर उसकी स्वामी निष्ठा तथा राष्ट्रप्रेम को उजागर करता है - ''तो सुनो शैवालिक ! अपने नए स्वामी

के पास यह अंगारों भरा संदेशा ले जाओ कि कलिंग नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज, अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिंता नहीं करते। वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है जिससे धरती थर्रा उठेगी; दीन, निर्धन प्रजा की शक्ति जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्दम्य सेनाओं का बल भर देगी। कोणार्क का मंदिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है।''[5] इस प्रकार मंदिर एक दुर्ग बन गया, शिल्पी सैनिक बन गए। अपने व्यक्तित्व से धर्मपद ने नरसिंहदेव को इतना प्रभावित किया था कि उन्होंने धर्मपद को दुर्गपति बना दिया। दुर्गपति धर्मपद ने दूत को दिया हुआ मुँहतोड़ जवाब देकर इस प्रकार युद्ध की प्रतिरक्षात्मक तैयारियाँ शुरू हुई। सभी के सामने एक ही समस्या थी चालुक्य को रोकने की। रात में नरसिंह देव पिछले द्वार से निकलकर पुरी चले जाते और सुबह होते ही उनके अश्वरोही सैनिक चालुक्य की महत्वाकांक्षा का पुरस्कार देते। पर दिनभर चालुक्य को रोके रहना शिल्पियों के लिए कठिन काम था। साथ ही विशु के सामने यह सवाल उठता है कि यह धर्मपद कौन है ? इसी के साथ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक उसी दिन मध्यरात्रि का है। धर्मपद के शिल्पी सैनिकों ने चालुक्य के प्रमाद को रोके रखा और रात के अंधेरे का लाभ उठाकर श्री नरसिंहदेव पुरी की ओर जा चुके। मदांधता रात्रि के अंधकार में और समृद्ध होती है। इसलिए मूर्च्छा टूटने के बाद से धर्मपद चिंतित है कि रात्रि के युद्धविराम का सामान्य नियम तोड़कर महत्त्वाकांक्षी चालुक्य कुछ भी कर सकता है। सुरक्षा व्यवस्था के विषय में बात करने में वह विशु के पास जाता है। तो वहाँ एक दूसरे ही रहस्य का उद्घाटन होता है। युद्ध में घाव खाकर मूर्च्छित हो गए धर्मपद के गले से हाथी दांत का कंकन गिर पड़ा था जिसे सौम्य श्रीदत्त ने पाया, उठाया और विशु को दिखाया तो विशु को याद आया कि यह वही कंकण है जिसे उसने अपनी स्मृति और धरोहर के रूप में यौवन की अपनी प्रेयसी सारिका को दिया था और जिसे गर्भवती जानकर वह लोक-लाज के भय से छोड़कर भाग खड़े हुए थे और छद्म नाम से जीवन बिता रहे थे।

सौम्यश्रीदत्त की उपस्थिति में वे धर्मपद से कंकण के विषय में प्रश्न कर उसकी पुष्टि करते हैं और घोषित करते हैं कि धर्मपद उन्हीं का पुत्र है। पुत्र-प्रेयसी के वियोग में बारह बरस तक तप कर अपनी कायरता का पश्चाताप विशु ने भोग लिया था। अब उसे किसी प्रकार की लोक लज्जा का भय नहीं था। इतने में सूचना मिलती है कि रात के अंधेरे का लाभ उठाकर दक्षिण प्राचीर के अंश में शत्रु-दल ने एक छोटासा रास्ता बना लिया है और अब सैनिक भीतर प्रविष्ट हो रहे हैं। धर्मपद तुरंत सुरक्षात्मक

व्यवस्था हेतु जाना चाहता है। क्योंकि वह समझ चुका है कि अंत निकट है। थके हारे घायल सैनिक शिल्पी चालुक्य की प्रशिक्षित सेना के समक्ष सीधी लड़ाई में टिक नहीं पाएंगे और सुबह होने तक मंदिर पर चालुक्य का अधिकार हो जाएगा।

यह शिल्पियों की हार होगी। कला की पराजय। नरसिंहदेव की सहायता सेना के आने के पूर्व कोणार्क का पवित्र देवमंदिर पापियों के हाथ चला जाएगा। विशु धर्मपद को पिता के सहज स्नेहवश एक बार रोकना चाहते हैं कि चालुक्य के समक्ष वे धर्मपद के प्राणों की भिक्षा माँग ले। लेकिन धर्मपद द्वारा कलाकार की, कोणार्क की, मंदिर कला की और स्वयं विशु की बारह वर्ष की साधना की पराजय की बात सुनकर उनके भीतर का शिल्पी का सम्मान जाग उठता है और मन में ही वे निर्णय लेते हैं कि अपनी पवित्र कला-साधना को अत्याचारी अपवित्र हाथों में नहीं जाने देंगें। चाहे धर्मपद की ही क्यों उनकी भी जान क्यों न चली जाए। कोणार्क पराजय का प्रतीक नहीं बनेगा वह कलाकार के प्रतिशोध का प्रतीक बनेगा ''कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा।''[6]

''प्रतिशोध...... मेरे देवता..... मेरे दिवाकर शिल्पी का प्रतिशोध।''[7]

धर्मपद के प्रतिरोध हेतु विदा होते ही विशु भी गर्भगृह में जाकर उस चुंबक को तोड़ना शुरू कर देते हैं। जिससे आकर्षण का केंद्र संतुलित था। इसी समय चालुक्य बचे हुए शिल्पियों को पराजित कर नरसिंहदेव और विशु को ढूँढ़ते हुए आ पहुँचते हैं। गर्भगृह से पत्थर तोड़े जाने की आवाज सुनाई पड़ती है तो विशु को रोकने के लिए बलपूर्वक कपाट को तोडने की कोशिश की जाती है। ताकि मंदिर का विध्वंस रोका जा सके, लेकिन पत्थर टूट जाता है। सहसा विस्फोट की आवाज के साथ पूरा मंदिर खंड़हर बन जाता है। कोणार्क मंदिर के वे अवशेष महाप्रतापी नरसिंहदेव की कलाप्रियता, महाशिल्पी विशु की कला की चरमोत्कृष्टता एवं अत्याचारियों की विनाश की कथा कह रहे हैं। इसके साथ ही कोणार्क नाटक की कथावस्तु भी समाप्त हो जाती है।

***कथावस्तु समीक्षा* -**

नाटकों में कथावस्तु विविध रूपों में प्रस्तुत होती है। जैसे मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथाएँ एवं उपकथानक। कोणार्क की कथावस्तु ऐतिहासिक है किंतु उसका नाट्यशरीर ऐतिहासिक स्थूल घटनाओं और देशकाल की बारीकिओं से निर्मित नहीं है। उसमें नाटककार ने ध्वस्त कोणार्क के सूर्य मंदिर के ऐतिहासिक प्रसंग को नाटकीय कथानक के माध्यम से उजागर करना चाहा है। जिसमें

ऐतिहासिकता की अपेक्षा मानवीय संवेगों एवं प्रतिक्रिया पर ही दृष्टि गई है। इसलिए कोणार्क नाटक का कथानक ऐतिहासिक होते हुए भी मानवीय भावना से ओत-प्रोत है। माथुर के इस नाटक में इतिहास एवं कल्पना का मनिकांचन संयोग हुआ है। नाटक की कल्पना ऐतिहासिक तथ्यों के साथ घुलमिलकर आई है। इतिहास और कल्पना कथावस्तु के आधार हैं।

कथावस्तु के आधार पर कोणार्क नाटक की कथावस्तु मिश्र कथावस्तु मानी जाती है। क्योंकि इसमें इतिहास और कल्पना दोनों प्रकार की कथावस्तु का संमिश्रण दिखाई देता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु अत्यंत संक्षिप्त है। कथा का विकास भी स्वाभाविक ढंग से हुआ है। कथानक को पारस्परिक सूत्रों में जोड़ने के लिए उपक्रम, उपकथन और उपसंहार का विशिष्ट प्रयोग हुआ है।

कथावस्तु में मौलिकता एवं संक्षिप्तता के साथ ही रोचकता का गुण भी है। इस में पात्र-संख्या अत्यंत सीमित है। वस्तु के प्रकार के अनुसार नाटक में मुख्य कथा के साथ कुछ अवांतर घटनाओं का संयोजन किया है। मुख्य कथा के साथ कुछ सहायक कथाएँ भी चलती हैं। जिन्हें पताका और प्रकरी कहा गया है। प्रस्तुत नाटक में कोणार्क मंदिर के निर्माण की कथा के साथ विशु के प्रेम की कथा नरसिंहदेव द्वारा यवनों के पराभूत होने की कथा इस प्रकार की सहायक कथाएँ आई हैं।

नाटक में कथानक के आदि मध्य और अंत की स्पष्टता भी महत्त्वपूर्ण होती है। कुछ लोग आरंभ में किसी दृश्य चित्र को लेते हैं, कुछ लोग रहस्य की सृष्टि करके कथासूत्र को पकड़ते हैं तो कुछ लोग स्वाभाविक विकास की दृष्टि से कथा का प्रारंभ करते हैं। उसी प्रकार अंत भी करते हैं। साथ ही नाटक का अंत घात-प्रतिघातों के पश्चात सुखांत दुखांत अथवा प्रसादांत करते हैं। इस दृष्टि से कोणार्क दुखांत की श्रेणी में आता है।

नाटक की कथावस्तु में स्थान-स्थान पर संघर्ष की स्थितियाँ उसे रोचक और आनंदायी बना देती है। पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में अंतर्द्वंद्व और बाह्य द्वंद्व कथावस्तु के लिए आवश्यक माना है। कोणार्क में यह अंत-बाह्य संघर्ष स्पष्ट रूप में दर्शाया गया है। एक ओर जहाँ अत्याचारी और विश्वासघाती चालुक्य नरेश बन जाने की घोषणा करके धर्मपद के नेतृत्व में श्रमिकों और चालुक्य की सेना में संघर्ष स्थिति पैदा करता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के कथानक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ (बीज, बिंदु, पताका, प्रकरी और कार्य), पाँच अवस्थाएँ (आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम) और पाँच

संधियाँ इनका होना आवश्यक है। कोणार्क नाटक में उपरलिखित सभी अवस्थाएं मिल जाती हैं किंतु नाटक दुखांत होने के कारण कथावस्तु में पूर्ण रूप से सहयोग नहीं देते परंतु इनका पूर्ण अभाव है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु अपने आपमें सुगठित, मौलिक, रोचक एवं संक्षिप्त है। उसमें पात्रों की संख्या कम होने के कारण घटनाओं में संबद्धता का सुंदर समायोजन उपलब्ध होता है। रस एवं संघर्ष की योजना में नाटकीय कथावस्तु को भावपूर्ण एवं सहज संवेद्य बनाने में अपूर्व योगदान दिया है। अंततः यह कहा जा सकत है कि कथाशिल्प की दृष्टि से जगदीशचंद्र माथुर का कोणार्क एक सफल नाटक है।

पहला राजा -

कथावस्तु -

ब्रह्मावर्त के स्थानेश्वर के निकट के टीले पर एक मंजूषा में आततायी राजा वेन का शव रखा है। उसके गले में कुशा की रस्सी लिपटी हुई है और उसकी माँ सुनीथा उसके शरीर पर विशेष लेप करती हुई मृत्यु के देवताओं को प्रार्थना करती है कि मेरे प्रतापी पुत्र वेन के प्राण वापस करो। पिछले अठ्ठाईस दिनों से यही क्रम चल रहा है। पर वेन निर्जीव पड़ा है। सुनीथा के चमत्कारी लेप से वेन का शरीर जरूर सुरक्षित रहा है। नाटक की घटना के दिन वेन के जीवित नहीं होने पर सुनीथा अपनी दासी को आदेश देती है कि वह वेन के गले की कुशा को तलहटी में ले जाकर रोप दे ताकि ब्रह्मावर्त की धरती पर अभिशापों का जंगल फैल जाय और कुचक्री हत्यारे मुनियों को उनके किए का फल भोगना पड़े, जिन्होंने कुशा की उस रस्सी में हत्यारे मंत्र फूंके थे।

तलहटी में अत्रि, गर्ग, बालखिल्य और शुक्राचार्य मिलते हैं। उनकी बातचीत से पता चलता है कि राजा वेन निरंकुश हो गया था। इसलिए ऋषि-मुनियों ने उसको मृत्यु का अभिशाप दे दिया। लेकिन वेन के अत्याचारों से भयभीत छिपे दस्यु वेन के मरतें ही आश्रमों पर हमला करने लगे और ऋषि-मुनि असुरक्षित हो गए। फिर बिना शासक नियुक्त किए व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती इसी प्रसंग में ये सभी मुनित्रय सुनीथा से मिलने आए हैं। कुशा रोपती हुई दासी को सूत मागध खदेड़ कर मुनियों के पास ले जाते हैं। वे मुनियों को बताते हैं कि आश्रम छोड़ने के बाद दस्युओं ने फिर आक्रमण किया था। एक गौरांग और एक श्यामांग वीर ने उन्हें मार भगाया वे हिमालय की तलहटी से सुनीथा से मिलने आए हैं

और उन्हें सुनीथा के पति राजा अंग ने भेजा है जो वेन के व्यवहार से दुखी होकर हिमालय में तपस्या करने चले गए थे। उनके पीछे गौरांग पृथु और श्यामांग कवष भी आता है। उन्हें देखते ही शुक्राचार्य आदि ऋषियों के मन में एक योजना जन्म लेती है।

वे पृथु और कवष को स्नानादि कर टीले पर आने को कहते हैं और सूत मागधों के साथ आई गर्ग की पालिता पुत्री अर्चना को भी वही उपस्थित होने को कहते हैं और सभी ऋषि सुनीथा के पास पहुँचते हैं। वे सुनीथा को वेन का शव देने के लिए विवश करते हैं। ताकि उसकी देह का मंथन करके ब्रह्मावर्त के लिए उसके तेज से नए उत्तराधिकारी शासक का मंत्रबल से अविर्भाव किया जा सके। इस प्रकार कवष जंघापुत्र और पृथु भुजापुत्र घोषित किए जाते हैं। कवष को वेन का पाप अंश और पृथु को वेन का पुण्य अंश मानकर पृथु को पहला राजा घोषित किया जाता है और उसे शपथ दी जाती है। हरेक वचन पर कुशा-रस्सी को एक गाँठ बाँध दी जाती है। पहला वचन शुक्राचार्य द्‌वारा दिया जाता है - ''यह कि आप अपने बाहुबल से ब्रह्मावर्त के आश्रमों और यज्ञशालाओं की रक्षा करेंगे।''[8] इस प्रकार शुक्राचार्य, गर्ग, अत्रि इन मुनियों द्‌वारा उसे पाँच प्रकार के वचन लिए जाते हैं और अंत में पृथु की जय-जयकार की जाती है।

सुत और मागध उसका बिरूद बखानने लगते हैं तो पृथु उन्हें रोकता है और कहता है - ''आपने मुझे राजा बनाना स्वीकार किया, इसके लिए मुझे स्तुति नहीं कर्म का उल्लास चाहिए। बिना मेहनत के तारीफ मुझे उतनी ही अशोभनीय लगती है जितनी बिना बुराई के निंदा।''[9]

अर्चना को पृथु की रानी के रूप में अभिषिक्त किया जाता है। इस प्रकार ब्रह्मावर्त का नायक, शासक और पहला राजा पृथु शासन-भार ग्रहण करता है।

राजा अंग अपने पुत्र वेन की स्वेच्छाचारिता से क्षुब्ध थे। रक्त की मिलावट की बात को लेकर उस समय आर्यों में बड़ी कठोर नीति बरती जाती थी। वेन का किसी निषाद युवती के साथ संबंध था और पिता-पुत्र में संघर्ष होने का यही एक मात्र कारण था। वेन वेद विरोधी आचरण के लिए कुख्यात होता गया और उसने खुद को ही ईश्वर घोषित किया। दुःखी और क्रुद्‌ध अंग एकांतवास के लिए हिमालय चले गए। इसके बाद वेन की प्रेयसी गर्भवती हो गई ऋषि मुनियोंने प्रत्यक्ष उसका विरोध किया। इस गर्भवती निषाद युवती को वेन ने भी ठुकरा दिया। तब शुक्राचार्य ने उसे अंग के आश्रम में भेज दिया। उसी का पुत्र हुआ कवष जो पृथु का साथी था। पृथु हिमालय की तलहटी के प्रदेश का आर्य

और प्रतिभावान युवक था। काफी समय बीत जाने पर पृथु और कवष सयाने हुए तो वेन की मृत्यु का समाचार अंग को मिला। संभवत: शासनभार संभालने के लिए अंग वेन पुत्र कवष को स्थानेश्वर भेजा सुनीथा के पास और उसे सुरक्षित पहुँचाने का दायित्व दिया पृथु को। अंग के आश्रम में पृथु और कवष की एक और मित्र थी उर्वी। उर्वी को दोनों से अथाह प्रेम था। इसलिए वह अर्चना से कहती है - ''नेह भी एक खोज है। मेरे मन का मेघ दो तालों के दर्पनों में झाँकता है।''[10] ब्रह्मावर्त में घटनेवाली घटनाओं की खबर चारों ओर थी। इसलिए अंग ने जब पृथु और कवष को स्थानेश्वर भेजा तो उर्वी भी उनके पीछे चली आई यह सोचकर कि ''ब्रह्मावर्त बहेलियों का जाल है। दो नादान कबूतर उसमें कहीं फँस न जाएं।''[11] और वही होता भी है पर अंग की योजना उलट जाती है। शासक कवष नही पृथु बन जाता है। पृथु यद्यपि कवष को साथ रखना चाहता है और ऋषियों को अपना मंत्रिमंड़ल और कवष को अपना सेनापति घोषित करता है। पर कवष इस पूरी व्यवस्था के बीच छिपे अपने अपमान को भाँप जाता है और पृथु का साथ छोड़ देता है।

द्वितीय अंक एक वर्ष बाद का है। दस्यु समस्या सुलझ चुकी है। चारों तरफ शांति है। पृथु के पास अब करने को कुछ नहीं है। इसलिए उनका मन ऊब रहा है। अर्चना का प्रेम पाश भी कर्तव्य के संघर्ष के अभाव में उसे फीका लगता है। पौरूष व प्रणय की तूला पर समतूल देखना चाहता है - ''अर्चि सुनो! ..... एक तराजू है मेरा यह तन-मन। एक पलड़े पर तुम्हारे अलिंगन का सोना और दूसरे पर चुनौतियों का भार!.... अगर केवल..... प्यार सम्मोहन में खो जाऊँ तो.... तो तराजू के पलड़े चंचल हो जाते हैं। ....अर्चि....!''[12] पर इसी समय चारो ओर अकाल से हाहाकार मचने लगता है। मुनियों के उकसावे में जनता पृथु के समक्ष प्रदर्शन करने और नारे लगाने आती है। पृथु उनका निर्भिकता से स्वागत करता है। अकाल के कारण की बात सोचता है। बात समझ में नहीं आती, क्योंकि सब कुछ बाहर-बाहर उसे ठीक ही लगता है। ऋषियों का मंत्रिमंड़ल उसे बताता है कि सरस्वती के पार की दस्युओं की गुफा में उर्वी और कवष भूचंडी देवी का अनुष्ठान कर रहे हैं। जिसके प्रभाव से धरती का रस सूख गया है। पृथु उन दोनों को मारने के निश्चय से विदा होता है। जाते वक्त रास्ते में वह थक जाने के कारण आराम कर रहा होता है तो वह एक स्वप्न देखता है - भागती पृथ्वी... पीछा करता पृथु, पृथ्वी का गौ-वन जाना, उर्बी-पृथ्वी गौ में समान बिंब गौ द्वारा दोहन का अनुरोध। स्वप्न टूटता है तो इन सब पर वह विचार करता है तभी जोर-जोर की आवाज उसका ध्यान खींचती है। जब वह आगे बढ़कर देखता है तो

उर्वी कवष एवं अन्य जातियों के लोग एक यंत्र का चालन करते और भूचंडिका का अनुष्ठान करते दिखाई देते हैं। वह क्रुद्ध है *क्योंकि अकाल के कारण प्रजा को होनेवाले कष्ट का कारण वह उन्हें ही मान चुका* है, लेकिन उर्वी और कवष मिलकर उसे समझाते हैं कि अकाल का कारण यह पूजा अनुष्ठान नहीं है उसका कारण है आर्यों की कृषि-पद्धति। वैश्वानर अग्नि आगे-आगे लेकर चलते हुए जंगल जलाकर बीज बोनेवाली खेती जिसकी उत्पादन क्षमता एक ही बार में चुक जाती है। फिर नए जंगल की तलाश। अंतहीन क्रम जिसने सारी पृथ्वी को बंजर बना दिया है। अकाल तो निश्चित ही था लेकिन अभी भी उसके लिए सुधार के उपाय किए जा सकते हैं।

पृथु की स्वप्न देखने की घटना से तृतीय अंक शुरू होता है और निकट की ध्वनि सुनकर पृथु वहाँ पहुँचते हैं। *जहाँ भूचंडिका की उपासना के साथ यंत्र के सहारे सरस्वती से जल खींचा जा रहा* है। पृथु की उर्वी और कवष से भेंट होती है। सभी मिलकर अकाल पर चर्चा करते हैं तथा आर्यों की कृषि पद्धति पर बातें होती हैं। उर्वी पृथु राजा के देखे स्वप्न का अर्थ और अकाल के निराकरन का रास्ता सुझाती है कि खेतों को समतल किया जाए ताकि वर्षा का जल खेती में ठहरे गोधन द्वारा धृत, दुग्ध एवं उर्वरक बनाया जाए। सरस्वती की सूखती जलधारा को बनाए रखने के लिए दृशद्वती पर बाँध बांधा जाए और नहर द्वारा यमुना का जल खींचकर सरस्वती में मिलाया जाए ताकि खेतों की सिंचाई हो सके। ऐसे में पृथ्वी धन-धान्य से संपूर्ण रहेगी प्रजा संतुष्ट। पृथु को बात समझ में आती है और वह कवष एवं उर्वी की सलाह पर एक नया आंदोलन खड़ा कर देता है। निन्यानवे प्रकार से पृथ्वी का दोहन करके प्रजा को सर्वती भावेन प्रसन्न करता है। बाँध की योजना भी चल पड़ती है। लेकिन राजा पर कवष और उर्वी का प्रभाव खटकने लगता है। *यह बाँध उनके लिए चुनौती बन जाती है। यह बाँध बंध गया तो राजा और* प्रजा पर भी उर्वी और कवष की धाक बैठ जाएगी। ऋषि मुनियों का समाज में महत्त्व कम हो जाएगा। उनके मन में अंत में यह भी भय उत्पन्न होता है कि राजा भी उन्हें अधिक महत्त्व नहीं देगा। इसलिए ये सभी ऋषि एक होकर आपसी मिली भगत से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि ठीक उस समय जब हिमालय की तलहटी में वर्षा होती है, नदियों में बाढ़ आने को होती है और बाँध को पूरा करने के लिए आवश्यक मजदूर भी उपलब्ध नहीं होते। बाढ़ आती है और अधूरे बाँध को अपने साथ बहा ले जाती है। इस प्रकार शुक्रचार्य की शुक्रनीति अन्य मुनियों की कुटनीति पृथु का सपना चकनाचुर करती है। पृथु बाँध को पूरा करने के लिए मजदूरों के साथ जानेवाला ही था तब सूत और मागध उन्हें बाँध बह जाने की

सूचना देते हैं। साथ ही उर्वी और कवष के साथ बहनेवाले मजदूरों का भी समाचार पृथु को मिलता है। इस घटना से ऋषि कुल प्रसन्न एवं संतुष्ट हुआ है। पर पृथु को लगता है कि शायद यह उनकी पराजय है। पृथु कहता है - "मैं आद्रिराज पृथु , आर्यों का पहला राजा, मेरा यही स्वरूप तो सदियों बाद याद किया जाएगा, धनुषबाण से सुसज्जित देह, खड़ग की चमक से मंड़ित मुख, शत्रुओं को दहलाने वाले घोर स्वर का विधायक पराक्रमी विजेता दस्युओं का विनाशक, प्रजा का नायक, मुनियों का पालक-पृथु....॥ लोग कहेंगे पृथु अवतार था। ......अवतार लेकिन इस मुखौटे के नीचे मेहनत के पसीने से चमकता चेहरा कौन जानेगा ? इन हाथों में कुदाली की पकड़ को कौन समझेगा ? किसे ध्यान होगा कि धरती को समतल बनाकर उसे दोहने वाले हाथ कौनसे थे ? पृथ्वी !..... पृथु की पृथ्वी ।.... कौन समझेगा इन शब्दों को ?"[13] क्यों और कैसे यही बात उनके समझ में नहीं आती। ऐसे ही अवसाद क्षणो में राजा के सोए पुरूषार्थ को जगाने के लिए ऋषि कुल पुनः वैश्वानर अग्नि के पीछे चलने, चक्रवर्तित्व प्राप्त करने का प्रस्ताव लेकर आ उपस्थित होते हैं। पृथु के पास उनके अनुसरन के अलावा और कोई चारा नहीं। कवष और उर्वी जैसे मित्र, भाई और माता, सखी, सहचरी का निस्वार्थ मार्ग निर्देश अब उसे प्राप्त नहीं हो सकता।

कथावस्तु समीक्षा -

नाट्यशिल्प के परिप्रेक्ष्य से तात्पर्य कथ्य और अभिव्यक्ति की परस्पर घनिष्टता और संतुलन को परस्पर स्थापित करने से है। साहित्यसृष्टा सदैव महती अंतर्दृष्टि, प्रभावात्मकता एवं व्यापक संवेदनशीलता की वरेण्य कसौटी पर कसकर ही विषय को चुनता है। ज्यो घटना जीवन के मर्म को घोषित कर उसमें प्राण ज्योति और गति का संचार करने में पूर्णतया सक्षम हो सके वही कृति का रूप धारण कर सकती है। कथानक का चयन एवं उसका व्यवस्थित कलापूर्ण प्रस्तुतीकरण ही नाटककार के महानता के मानदंड़ हैं।

प्रस्तुत नाटक पहला राजा के बारे में नाटककार की निजी राय में यह नाटक प्रतीकात्मक नाटक है और प्रयोग के धरातल पर वे इसे एक 'माडर्न एलिगोरी' मानते हैं।

कथावस्तु के प्रकार के अनुसार 'पहला राजा' नाटक की कथावस्तु मिश्र कथावस्तु है। क्योंकि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु में ऐतिहासिकता, पौराणिकता और यथार्थता के साथ-साथ काल्पनिकता भी दिखाई देती है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु के साथ संबंध रखनेवाली अन्य छोटी-छोटी सहायक कथाओं का संयोजन भी प्रस्तुत नाटक में देखने को मिलता है। राजा पृथु की मुख्य कथा के साथ संबंध रखनेवाली कवष और उर्वी की कथा, नदी पर बाँध बांधने की तथा नहर खोदने की कथा, मुनियों की कूटनीति तथा शुक्राचार्य की अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए शुक्रनीति की कथा इस प्रकार की सहायक कथा आई है और ये कथा पताका और प्रकरी रूप में नाटक में संबंध रखती है।

प्रस्तुत नाटक में मौलिकता एवं संक्षिप्तता के साथ-साथ रोचकता भी दिखाई देती है। पात्रों की संख्या भी मर्यादित है। कथावस्तु का प्रारंभ और अंत भी दुखांत है क्योंकि प्रारंभ में सुनीथा अपने पुत्र वेन के मरने के कारण दुःखी है। तथा अंत में कवष और उर्वी की मृत्यु, ये सारी बातें अंत में दुःखी घटना को खड़ा करती है। इसलिए इस नाटक का अंत भी दुखांत है।

नाटक की कथावस्तु में स्थान-स्थान पर संघर्ष की स्थितियाँ निर्माण की है, जो नाटक की कथावस्तु को प्रभावोत्पादक बनाती है। आर्य अनार्य संघर्ष द्वारा भारत में आर्यों के प्रवेश संघर्ष और अनार्य के विरोध के रूपक को व्याख्यायित किया है। साथ ही पृथु का अर्चना के साथ प्यार होना और उसी समय चारों ओर अकाल तथा मुनि और जनता का पृथु के सामने प्रदर्शन करना एक संघर्ष की स्थिति पैदा करता है। *उर्वी और कवष का अनुष्ठान नष्ट करने के लिए पृथु का खड़ा होना यह उसका बाह्य* संघर्ष है। लेकिन स्वप्न पर चर्चा करके खेती को समतल बनाना, नहर खोदना, बाँध बाँधना और प्रजा को संतुष्ट करना यहाँ पृथु का आंतरिक संघर्ष दिखाई देता है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक के कथानक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ और पाँच संधियों का होना आवश्यक है। प्रस्तुत नाटक में यह सभी अवस्थाएँ मिल जाती है किंतु शिल्प के धरातल पर माथुर ने इस नाटक में किया गया उल्लेखनीय प्रयोग है - सूत्रधार और नटी का। नाटक के प्रारंभ की प्रस्तावना एवं अंत के आशीर्वचन के रूप में उपयोग न किया जाकर, घटनाओं के बीच की टूटी हुई कड़ी को जोड़ने, चरित्रों की मनोदशा का पूर्वाभास देने, कालक्षेपन की सूचना देने विभिन्न घटनाओं, प्रसंगों और चरित्रों की प्रतिक्रिया पर लेखकीय टिप्पणी देने के निमित्त किया गया है। पारंपारिक सूत्रधार और नटी यहाँ नितांत भिन्न और प्रयोगशील भूमिका निभाते हैं।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि कथावस्तु की सभी अवस्थाएँ प्रस्तुत नाटक में पूर्ण रूप से यहाँ नहीं मिलती परंतु इनका पूर्ण अभाव भी नहीं मिलता। स्थान-स्थान पर इन अवस्थाओं का

सुंदर समायोजन दिखाई देता है।

प्रस्तुत नाटक की समीक्षा करते हुए डा. ज्ञानराज गायकवाड ने लिखा है - ''जगदीशचंद्र माथुर का 'पहला राजा' में अनेक समसामायिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। इस में आर्य-अनार्य के समन्वय साधन के रूप में वर्ण संकर की समस्या को अन्नोत्पादन की समस्या को, जमीन को समतल और उपजाउ बनाने की समस्या को जल उपलब्धि के लिए नदी के प्रवाह को मोड़ने और बाँध के निर्माण की समस्या को शासक द्‌वारा प्रजाहित की समस्या को प्रधान स्थान मिल गया है। ये सभी समस्याएं आज के जीवन की हैं।''[14]

''इस में कोई संदेह नहीं कि माथुर ने पूरी कोशिश की है कि नाटक के पहले राजा को नेहरू के व्यक्तित्व के साँचे में ढाला जाए चाहे वह ढले या न ढले।''[15]

अंत में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु में वस्तु के आधार, प्रकार तथा रूप पूर्ण रूप में दिखाई देते हैं। घटनाओं का सुंदर समायोजन किया है और उसके कारण कथावस्तु रोचक बन पड़ी है। रस एवं संघर्ष की योजना भी प्रस्तुत कथावस्तु में ठीक स्थान तथा समय पर होने के कारण उसमें प्रभावोत्पादकता एवं भावुकता भी तैयार हुई है। इन सभी के कारण 'पहला राजा' एक सफल नाटक है।

शारदीया (भग्न प्रेम की करूण रागिनी) -

इतिहास के स्थूल शरीर की अपेक्षा अनुभूति और कल्पना की आत्मपरक अभिव्यक्ति ही 'शारदीया' की मूल सर्जनात्मक स्वीकृति है। दोनों में कार्यकारण संबंध दिखाई देता है। अनुभुति मूल सत्ता है और कल्पना उसे सक्रिय करती दिखाई देती है। कोणार्क की भाँति ही इस नाटक की मूल अवधारणा भी काव्य के स्तर पर प्रकट हुई है। इसलिए उसका केंद्रीय तत्त्व काव्यात्मक अनुभूति ही है। जो नाट्य-स्थिति, पात्र, वातावरण संवाद सभी का एकरूप संस्कार करती दिखाई देती है। यही सर्जनोन्मुख अनुभूति-प्रवणता, दृश्य-अदृश्य, ख्यात-अख्यात, जड़-चेतन को भेदकर अपनी आभ्यंतरिक दृष्टि से जीवन के सूक्ष्म अनुभवों और सत्यों को उद्‌घाटित करने का प्रयत्न करती है। शारदीया में इस अनुभूति का केंद्र व्यक्तिवाद है। कोणार्क की ही भाँति इस नाटक के केंद्र में भी व्यक्ति है जिसकी भग्न प्रणय रागिनी का स्वर सार नाटक की आत्मा को उद्‌वेलित करता है। राजनीति की स्थूल घटनाओं के

बीच बायजाबाई और नरसिंहराव के व्यक्तित्व, प्रणय के अंत: संबंधों और उसमें निहित जीवन की कविता से जुड़े हैं।[16]

शारदीया रचना के पीछे काम करनेवाली अपनी मानसिकता का परिचय देते हुए नाटककार ने प्राक्कथन में कहा है कि ''कुछ वर्ष हुए मुझे नागपुर म्यूजियम में एक असाधारण वस्त्र देखने को मिला उसकी लंबाई पाँच गज से अधिक यानी एक साड़ी के बराबर है। किंतु वजन उसका केवल पाँच तोला है। धवल रंग की इस साड़ी में कुछ ऐसी आभा है जो आजकल के वस्त्रों में मुश्किल से पाई जाती हैं। ....इस साड़ी या वस्त्र को ग्वालियर किले के एक तहखाने में बुना गया और इतनी बारीक के बुनकर ने अपने अंगूठे के भीतरी नाखून में सूराख कर लिया था। ताकि वह ढरकी यानी शटल का काम दे सके। बुननेवाला व्यकित राष्ट्रद्रोह के अपराध में दौलतराव सिंधिया की आज्ञा से सन् 1795 ई. में खर्दा के उस इतिहास प्रसिद्ध युद्ध में बंदी बना लिया गया था।.... मन और तन को अंधेरे और घुटन के बंधन में जकड़ने वाले उस कारागार में इस कलाकार बंदी को किस अजय सौंदर्य से प्रेरणा के विरामहीन घूँट मिले ? इस प्रश्न ने मेरी कल्पना को उत्तेजित किया और तभी नरसिंहराव और उसकी प्रेयसी की काल्पनिक मूर्तियाँ साकार हो गई ..... मर्मज्ञ पाठक और दर्शक बंदी को बांधनेवाली जंजीरों की खड़कन से परे उसकी उन्मुक्त स्मृतियों और उसकी स्वच्छंद कल्पना में सीमाहीन आलोक और निर्बाध गति की झनकार सुन पाएंगे।''[17]

गोविंद चातक की पंक्तियाँ माथुर के एक विशेषज्ञ के रूप में ली गई हैं। स्वयं नाटककार का अंश इसलिए लिया गया है, जिसके कारण नाटककार की रचना दृष्टि का पता हमें चलता है। साथ ही इस नाटक का केंद्रीय भाव नरसिंहराव और बायजाबाई का प्रेम इस नाटक की आत्मा है और शरीर गठने के क्रम में अन्य बातें आ गई हैं।

शरद पूर्णिमा सन् 1794 की संध्या में नाटक का प्रथम दृश्य सखाराम घाटगे के मकान में खुलता है। सखाराम घाटगे की पुत्री बायजाबाई अपने काम में व्यस्त है। इतने में दरवाजे पर दस्तक होती है। दरवाजा खोलकर देखती है तो उसका बचपन का प्रेमी नरसिंहराव उसे दिखाई देता है। जब नरसिंहराव कागल में रहता था तब दोनों में गाढ़ी दोस्ती थी और यह परिचय प्यार में बदल गया। बायजाबाई की माँ ने दोनों का प्रेम देखा और उसे धन कमाने के लिए प्रेरित किया और साथ में यह वचन

भी दिया कि जब वह गृहस्थी जमाने लायक पूँजी लेकर लौटेगा तो बायजाबाई का ब्याह उसीके साथ किया जाएगा।

दो वर्ष पहले मन में एक उम्मीद लेकर नरसिंहराव ने बायजाबाई से विदा ली थी कि लौटने के बाद उसकी दुनिया ही बदल जाएगी। लौटकर देखा तो पूरा कागल बदल चुका था। सखाराम घाटगे की किलेदारी चली गई थी। अपमानित सखाराम घाटगे ने कागल छोड़ दिया और पूना में आकर नाना फडणविस के यहाँ नौकरी करने लगा। सखाराम के मन में प्रतिशोध की आग धधकती थी कि मराठा राज्य को किल्लेदारी छिनने की बड़ी-से-बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी। इसी बीच में बायजाबाई की माँ का निधन होता है। बायजाबाई अकेली पड़ जाती है उस समय उसे उसकी पुरानी परिचारिका सरनाबाई साथ देती है।

दो वर्ष के बाद जब शारदीया के दिन उसकी बिछड़े नरसिंह के साथ जब भेंट होती है तो उसके आल्हाद और खुशी की सीमा ही नहीं रहती। अपने वादे के मुताबिक नरसिंह गृहस्थी जमाने के लिए आवश्यक पूँजी लेकर आया था। लेकिन आने के बाद उसे पता चला कि वादा निभानेवाली ही चली गई। दो वर्षों तक वह निजाम हैदराबाद के दरबार में सिंधिया के सरदार काले के साथ रहा, हैदराबाद के कुशल कारिगरों की तैयार की गई साड़ियाँ बंबई में जाकर बेंची और उनकी कला भी सिखी। अंगूठे के नाखून में छेद बनाकर पाँच तोले वजन की पाँच गज की साड़ी बुनने की अनुठी कला।

आज नरसिंह बायजा के पास आया था कि वह अपना वचन निभाने का समाचार दे सके और मराठे एवं निजाम के बीच के संभावित आगामी युद्‌ध में एक सच्चे मराठा वीर सैनिक की तरह भाग लेकर धन कमाने के बाद यश भी कमा सके ताकि एक प्रतिष्ठित नागरिक के रूप में बायजाबाई का हाथ थामने की सामाजिक योग्यता की कसौटी पर भी वह उपयुक्त सिद्‌ध हो। बायजा को जीवन में कभी प्रेम करने का अफसोस न हो। युद्‌ध में विजय प्राप्त कर एक विजयी सैनिक के रूप में लौटने के बाद दोनों विवाह करेंगे और तब तक बायजा उसका इंतजार करेगी, इस आश्वासन के साथ वह बायजा से विदा लेना चाहता है। इसलिए वह आया भी था। अपनी उँगली चिरकर बायजा नरसिंह को विजय-तिलक लगाती है। विदा लेने से पहले नरसिंह बायजा से कहता है - ''चाहे मैं तुम्हारे निकट होता हूँ, चाहे तुमसे दूर, शरद की पूर्णिमा की तरह तुम मेरे मानस में छाई रहती हो। निर्मल, शीतल..... मन के कोने-कोने को भासमान करती रहती हो। गहरे अंधकार में मैंने मुस्काती चाँदनी का अनुभव किया है

बायजाबाई तुम्ही तो मेरी चाँदनी हो, मेरी शारदीया।''[18]

नरसिंहराव युद्ध के बाद एक विशेष तिथि को पहनी जाने के लिए एक विशेष वस्त्र (पंचतोलिया साड़ी) भेट देने का विशेष संकेत कर विदा लेता है। दोनों को उम्मीद थी की शारदीया की दूर तक फैली वह दूधिया चाँदनी उनके उज्वल, शीतल, निर्मल और सुखद भविष्य का प्रतीक बनेगी। लेकिन नरसिंहराव और बायजाबाई के प्रेम को अभी कई नाटकिय मोड़ों से होकर गुजरना था। नरसिंहराव जाते ही सखाराम आते हैं और बड़ी खुशी से बेटी को बताते हैं कि कागल की किलेदारी वापस पाने का रास्ता खुल गया है। सखाराम घाटगे की नहीं तो शर्जेराव घाटगे के रूप में उसकी अब सिंधिया महाराज तक पहुँच हो गई है। केवल किलेदारी ही नहीं और भी बहुत कुछ अब पाया जा सकेगा। माँ की अनुपस्थिति में बायजा स्वयं ही नरसिंहवाली बात और माँ के वादे की बात बताने के लिए विवश है, पर शर्जेराव घाटगे की इस पर विपरीत प्रतिक्रिया है और वह इस प्रसंग को एकदम नकार जाता है और बायजा को सख्त हिदायत कर देता है कि ''आज से नरसिंह तेरा कोई नहीं है।''[19] क्योंकि ''तेरे पिता की महत्त्वाकांक्षा कागल पर नही रूकेगी। उस महत्त्वाकांक्षा के यज्ञ को पूरा करने के लिए अगर तेरी आहुति की जरूरत हो तो भी मैं नहीं झिझकूँगा।''[20] आगे शर्जेराव बायजा से कहता है -''तेरे लिए वर मैं चुनूंगा।''[21] वर ऐसा जिसके यहाँ तु रानी बनकर रह सके।''[22] शर्जेराव घाटगे आगे तय कर लेता है कि उसे क्या करना है। नरसिंह को राह के रोड़े की तरह रास्ते से हटा देना है। बायजा द्वारा विदा की बेला में नरसिंह द्वारा उसके ललाट पर लगाए गए रक्त के टीके की तरफ देखकर शर्जेराव कहता है - ''रक्त का टीका ! वही टीका उसका काल बनेगा।''[23]

इस तरह नरसिंहराव के प्रति अपनी नफरत शर्जेराव प्रकट करता है। साथ ही अपनी कूटनीति द्वारा अपनी पुत्री को ही बली चढ़ाना चाहता है।

दूसरा दृश्य खर्दा की सीना नदी के किनारे मराठे के सैन्य शिविर का है। सिंधिया के शिविर में युद्ध सबंधी परामर्श परशुराम भाऊ, बाबा फड़के, दौलतराव सिंधिया के साथ जिन्सेवाले कर रहे हैं। ग्वालियर का किलेदार जिन्सेवाले अपने मित्र और भेदिया नरसिंह के कारनामों और व्यक्तित्व की चर्चा करता है। रणनीति तय होती है। शिविर के किसी कोने में शर्जेराव घाटगे छुपकर सब कुछ सुनता रहता है। कुछ समय के बाद नरसिंह आता है। मंत्रणा के बाद तय होता है कि अगले दिन जब नदी के उस पार खड़ी निजाम की सेना का अगला दस्ता पीछे की ओर और पिछला दस्ता आगे की ओर जगह

बदल रहा होगा तब मराठे हमला करेंगे। नरसिंह किले तक रसद पहुँचाने वाले पुल के रास्ते को निजाम के आदमियों को फोड़कर तोड़ देगा। तोप बिठाने के ठिकाने तय होते हैं। नरसिंह पर बड़ा दायित्व है जिस पर युद्ध का सारा दारोमदार है। नरसिंहराव जिस यश-कामना से बायजा से विदा लेकर निकला था उसमें उसने काफी दूरी तय कर ली थी। अब इतिहास में अपना स्थान बनाने की गरज से वह सेनापति परशुराम भाऊ के समक्ष एक प्रस्ताव रखता है - "दोनों राज्यों में हिंदू और मुसलमानों को अपने धर्मकाज करने की पूरी आजादी होगी, न दखन में गोवध होगा न महाराष्ट्र में खुदापरस्ती पर रोक -टोक, हिंदू और मुसलमान दोनों परमात्मा की संतान है। इसलिए न हिंदू मंदिरों पर आघात होगा, न मुसलमान मजारों, पीरों और पैगंबरों का अपमान किया जाएगा। दोनों एक-दूसरे के साथ मेल-मिलाप से रहेंगे। एक माँ की गोदी में दो भाई।"[24]

इस तरह नरसिंहराव हिंदू मुस्लिम एकता का प्रस्ताव रखता है। निजाम और मराठे दोनों के राज्यों में हिंदू मुसलमानों को धार्मिक स्वतंत्रता और समानाधिकार की बात कहता है। इस पर सेनापति यह वचन देते हैं कि संधि की शर्तें तय करते समय निर्णायकों तक वे उसकी बात पहूँचा देंगे। मंत्रणा समाप्त होने पर सब चले जाते हैं तब शर्जेराव घाटगे अपने छुपने के स्थान से बाहर आता है। *सिंधिया उसी का इंतजार कर रहे थे। दो वर्ष पूर्व के शरदोत्सव के दिन उन्होंने बायजाबाई को देखा था* और तब से वह सिंधिया के भीतर चुभ रही थी। घाटगे से यह बात छिपी नहीं थी और वह सौदा खूब ठोक बजाकर करना चाहता था। दोनों की बातें होती हैं। घाटगे सिंधिया द्वारा विवाह प्रस्ताव रखे जाने के पूर्व ही अपनी बात स्पष्ट करता है वह नरसिंह को दुधारी तलवार तथा आधा मुसलमान कहता है। सिंधिया को विश्वास करने के लिए मजबूर करता है और नरसिंह जैसे विश्वासघाती की विशेष व्यवस्था वह स्वयं करे ऐसा आश्वासन वह स्वयं ले लेता है। तब सिंधिया बायजा के बारे में इशारा करते हैं। शुरू में अपने उच्च कुलीन ब्राह्मण होने की बात कहकर घाटगे अपनी हिचकिचाहट जताता है। फिर इशारे में सौदा भी कर लेता है "अनुग्रहीत हूँ सिंधिया महाराज। .....उपकार का बदला चूका दूँगा। आपका प्रताप बढ़े-आपसे स्पर्धा करनेवालों का सिर नीचा हो-यही मेरी कोशिश रहेगी।.... आपको मेरी जरूरत है, सिंधिया महाराज और मुझे आपकी।"[25] सिंधिया भी इस बात को समझते हैं "मुझे देह की प्यास है और उसे खून की।"[26] रणनीति घाटगे को विदित थी ही। अगले दिन अपने कुछ आदमियों से भाऊ साहब के तोप पर गोला-बारी करवा देता है और खुद ही सिंधिया को यह खबर देता हुआ सिंधिया के मन

में यह विश्वास जगा देता है कि भाऊ के तोप का ठिकाना दुश्मनों को नरसिंह ने बताया। इसलिए नरसिंह को राष्ट्रद्रोह के अपराध में बंदी बनाकर ग्वालियर के किले में कैद करने की अनुमति सिंधिया से शर्जेराव प्राप्त कर लेता है। पुल को नष्ट करने का समाचार लेकर जब नरसिंह भाऊ को मिलने और जोरदार आक्रमण करने के लिए कहने आता है तो भाऊ बड़े प्रसन्न होते हैं। यद्यपि अपने उपर हुए अप्रत्याशित आक्रमण की चिंता होती है, पर वे युद्ध की व्यवस्था में लग जाते हैं। नरसिंह जिन्सेवाले की प्रतिक्षा कर रहा होता है, जिसे वह सारे समाचार, अपने कारनामे का समाचार दे सके और जो उसका एकमात्र सच्चा दोस्त था। अचानक कुछ लोग उसे (नरसिंह को) घेरकर बाँध लेते हैं और घोड़े पर लादकर रवाना हो जाते हैं। यह शर्जेराव घाटगे की निजी व्यवस्था थी। दो-चार दिन बाद ही सिंधिया से उसे फाँसी पर चढ़ा दिए जाने का आदेश प्राप्त कर ग्वालियर भेज देगा यह उसकी योजना थी। तीसरे दृश्य के इस अंत के साथ नाटक का प्रथम अंक पूरा होता है।

नरसिंहराव के बंदी बनाए जाने की घटना के एक महिने बाद के दृश्य में बायजाबाई युद्ध से नरसिंह न लौटने के कारण खिन्न, विषण्ण मनस्थिति में है। उसके पिता शर्जेराव घाटगे ने लखनऊ से एक तवायफ मँगाई है। रहिमनबाई जो बायजा को संगीत, नृत्य के साथ-साथ दरबारी कायदे कानून आदि की शिक्षा देने के लिए नियुक्त की है। लेकिन बायजाबाई को यह सब नहीं भाता। कृष्ण के वियोग में गोपियों की तरह सिसक-सिसक कर वह मरना नहीं चाहती। अपने शाम को खोजकर पा लेना चाहती है। बायजाबाई अपनी विश्वस्त अनुचर सरना की शरण लेती है। और दोनों मिलकर लंबी यात्रा में निकल जाना चाहती हैं। बायजाबाई को पूरी उम्मीद है कि नरसिंह और अधिक पूँजी कमाने के लिए जरूर हैदराबाद चला गया होगा और वह उसे खोजेगी। वहाँ से निकलते वक्त शर्जेराव घाटगे उन्हें पकड़ लेता है और सरनाबाई और बायजाबाई की इस चाल को समझकर तुरंत सरनाबाई को गाँव भेज देता है और रहिमन के हाथ बायजा को सौंप देता है। निष्फल प्रयास से बायजा मूर्च्छित हो जाती है। प्रियतम को पाने की सारी आशा धूल-धूसरीत हो जाती है। भग्न-हृदय बायजा अपने आपको परिस्थितियों के हवाले कर देती है। बड़े ही नाटकीय ढंग से शर्जेराव घाटगे यह रहस्य खोलता है कि नरसिंहराव हमारे दुश्मन निजाम की ओर से लड़ता हुआ मारा गया। बायजाबाई यह बात सुनकर सिसकने लगती है। उस वक्त शर्जेराव उसे कहता है- ''दुख तो तुझे होगा ही और तेरी पीड़ा मेरे ढाढ़स बंधाने से कम भी नहीं होगी।''[27] शरजेराव उम्मीद करता है कि इससे बायजा का प्रेम घृणा में बदल जाएगा और नरसिंह की प्रतिक्षा भी

समाप्त हो जाएगी। तब अपने-आप उसकी शादी सिंधिया से हो जाएगी। शर्जेराव घाटगे की यह दूसरी चाल है जिससे बायजा और नरसिंह के प्रेम की दिशा बदल जाती है।

इस अंक का दूसरा दृश्य ग्वालियर किले के तहखाने में खुलता है और सरदार जिन्सेवाले नरसिंहराव को मिलने के लिए आया है। सरदार जिन्सेवाले ने बड़ी दौड़-धूप से भरसक प्रयास करके अपने मित्र की फाँसी की सजा बदलवाकर आजन्म कारावास करा ली है। यही सूचना जब वह नरसिंह को देता है तो उसकी निराशा अथाह हो जाती है। जहाँ कुछ दिनों में उसे जीवन से मुक्ति मिल जाती अब वह अपनी ही लाश को न जाने कितने वर्षों तक ढोते रहने की दारूण यंत्रणा सहेगा। इस कल्पना से ही वह सिहर उठता है। शारदीया (बायजाबाई) को पाना तो कब का सपना बन चूका था। अब उसका जीवन भी उसके लिए धीरे-धीरे सपना बनता जा रहा था। जिन्सेवाले जब भाऊ पर आक्रमण वाली बात उससे पूछते हैं तो वह यह सच ही कहता है - "सरदार जिन्सेवाले यह सरासर झूठ है।.... मुझे नहीं मालूम कि गोलियों की बौछार क्यों और कहाँ से आई, लेकिन मेरे इशारे से ? ....उफ.... यह झूठ है। यह मिथ्यारोप है।"[28]

सरदार जिन्सेवाले भी इस बात को सच मानते हैं। अपने ऊपर उन्हें खेद है कि वे सिंधिया को इस भ्रम से मुक्त नहीं कर सके अन्यथा नरसिंह आजाद होता। किसी षड्यंत्र की कल्पना न तो जिन्सेवाले को थी न नरसिंह को। अतः अपने लंबे कारावास का शारदीया के नाम पर कुछ सार्थक उपयोग करने की बात नरसिंह के मन में आती है। तुरंत वह जिन्सेवाले को कहता है कि हैदराबाद से वे पंचतोलिया बुनने वाला एक करघा मँगा दे। इससे अपनी शारदीया के लिए एक ऐसा अमूल्य उपहार बुनेगा और साथ में कारागार के कुछ काले वर्ष भी कट जाएंगे। "मैं अंधेरे की जिंदगी में उजाले का ताना-बाना बुनूंगा शारदीया के लिए.... जब तक जिंदा हूँ, तब तक बुनता रहूँगा। रूपहले और सुनहरे पल्ले। हवा सी हल्की, कुसुम-सी कोमल, चाँदनी-सी झीनी चाँदनी। .... शारदीया...... वही तो असली चांदनी है।.... मेरी काल-कोठरी में उसकी ज्योति बरसेगी शारदीया की ज्योति।"[29]

जिन्सेवाले शारदीया का नाम नहीं जान पाते और लौट जाते हैं। लोहे के दरवाजे कर्कश आवाज के साथ बंद हो जाते हैं और अंधेरा नरसिंह की अंधेरी छाया को घेर लेता है। नरसिंह का दिल तो उसी दिन टूट गया था जिस दिन राष्ट्रद्रोह का आरोप लगाकर उसे बंदी बनाया गया था और फाँसी की सजा सुनाई थी। इधर बायजाबाई का हृदय भी शर्जेराव घाटगे ने अपनी कूटनीति, अनूठी क्रूर छलपूर्ण

चाल से तोड़ दिया। इस प्रकार यह अंक प्रेमी युगल का ह्रदय भग्न कर करूणा की एक रीसभरी रागिनी के स्वर छेड़ देता है।

अंतिम अंक के प्रथम दृश्य में घाटगे का मकान हैं जहाँ सिंधिया घाटगे द्वारा आयोजित नवाबी दस्तरखान साकी, शराब और अफीम का सेवन करते नाच-गान सुनते हैं। वे पुरी तरह से घाटगे की मुठ्ठी में है। सिंधिया को विलासी बनाकर घाटगे अपनी सारी योजनाएं साध रहा है। नाना फडणवीस की करोड़ों की संपत्ति को वह सिंधिया को दिला देता है और सिंधिया की विमाताओं को सड़े बाजार कोड़े लगवाता है। सिंधिया एक ही आशा में उसके हाथों कठपुतली की तरह नाचते जाते हैं कि बदले में बायजाबाई मिलेगी। अंत में वे घाटगे को दीवान बनाए जाने के आदेश पर दस्तखत करते हैं और एक मास बाद उनकी बायजाबाई से शादी घाटगे तय करता है। दृश्य के बीच में कुछ देर के लिए घाटगे आज्ञापत्र बनवाने की व्यवस्था के लिए बाहर गया होता है उसी बीच सरदार जिन्सेवाले आते हैं। मराठा राजा सिंधिया की यह नवाबी चाल देखकर वह अचंभित होता है और सिंधिया को अपनी पुरानी प्रार्थना दुहराता है कि नरसिंह को क्षमादान किया जाय। सिंधिया उसे चुप रहने के लिए कहते हैं और हिदायत करते हैं कि घाटगे को यह मालूम न हो कि नरसिंह जीवित है। एक मास बाद जब उनकी शादी हो जाएगी तो महारानी ग्वालियर जाएगी और यह उन पर निर्भर करेगा कि वे नरसिंह को मुक्त कर देती है या कारागार में ही छोड़ देती है। जिन्सेवाले बात नहीं समझ पाता, पर यह बात उसे मालूम हो जाती है कि नरसिंह की इस दुर्दशा के पीछे लंबा षड़यंत्र है और सिंधिया को उसका पता है। घाटगे की दीवानी के आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर के साथ दृश्य पूरा होता है। इस प्रकार शर्जेराव घाटगे ने अपनी पुत्री बायजा को दांव पर लगाकर अपनी अंतिम महत्त्वाकांक्षा भी अंततः पूरी कर ली।

इस अंक का दूसरा और अंतिम दृश्य ग्वालियर किले के उसी कारागार का है। प्रस्तुत दृश्य के पूर्वार्ध में नरसिंह और किले का गढ़पति की तथा उत्तरार्ध में नरसिंह और बायजाबाई की भेंट और बात-चीत है। यह दृश्य करूण और मार्मिक है। गढ़पति नरसिंह को यह सूचना देने आते हैं कि महारानी आई हुई है। दयालु स्वभाव की है। गढ़पति नरसिंह को यह आशा दिलाता है कि अन्य सभी कैदियों के साथ उसकी भी रिहाई हो जाए। नरसिंह के लिए इस रिहाई का कोई अर्थ नहीं रहा है। दो वर्षों के उस एकांत अंधेरे कारावास ने उसके लिए जीवन का मतलब ही बदल दिया है। गढ़पति ने यद्‌यपि अब उसकी जंजीरे खोल दी है पर अब उसके हाथ पैर करघे से बाँध चुके हैं। अब उसके पास कल्पना का अपना एक

संसार है। अंधेरे कमरे में भी वह बाहर छिटकी शारदीया की चाँदनी को देख सकता है। बगीचे में गुलाब के फूलों को सूंघ सकता है, हवा के सहारे तैरकर कमरे के भीतर आ जानेवाली पीलख चिड़िया का संगीत सुन सकता है। घनी अमराईयों में पीलख के पीले पंखों की आभा-शोभा निहार सकता है। वह गढ़पति से कहता है - ''मेरी पीलख पर कोई बंधन नहीं है, गढ़पति। नीले आसमान की रागिनी में उसकी पीली ज्योति एक मधुर तान है और इस तंग कोठरी की दबी मुस्कान के पर्दे पर उसकी उड़ान खिलखिलाती हुई हँसी। कभी-कभी तो गढ़पति जी इस तहखाने में बहुत भीड़ जमा हो जाती है।''[30] इसी समय महारानी के आने की खबर दी जाती है और गढ़पति नरसिंह को समझाता है कि आज के दिन अपनी महारानी के विवाह के शुभदिन के लिए अपनी पंचतोलिया साड़ी महारानी को भेट कर दे। आशा है कि रानी उस पर खुश होकर उसकी रिहाई कर दे। नरसिंह के लिए ''यह कपड़ा....यह तुम्हारी स्मृतियों का ताना-बाना। यह महारानी को दूँ ? ....असंभव ! ....ओह शारदीये ! ये लोग कितने नासमझ कितने नादान। ये पत्थर समझदार है, जो तुम्हें मेरे पास आने देते हैं। जो रात में मुंदते कमल की पखुंड़िया बन जाते हैं।''[31] नरसिंह को क्या पता था कि महारानी ही उसकी शारदीया है, जो आज ठीक दो वर्षों बाद ठीक शारदीया के दिन उससे मिलने आ रही है। जिन्सेवाले आकर नरसिंह को बता देते हैं कि महारानी उससे मिलने आई है। उस वक्त नरसिंह कहता है - ''नहीं सरदार ! क्या आप नहीं जानते कि आज शरद पूर्णिमा है और किसके दर्शन का आज मैं भिखारी हूँ।''[32] आँख मूँदकर रोते सिसकते नरसिंह को क्या पता था कि शारदीया उसके सामने खड़ी है। जब जिन्सेवाले बताते हैं कि महारानी उससे मिलने आई है और महारानी ही बायजाबाई हैं तो उधर देखता है दोनों एक दूसरे को देखते कुछ क्षण बीत जाते हैं। फिर बायजाबाई नरसिंह को सारी कहानी बताती है कि उसके पिता शर्जेराव घाटगे ने ही उसके आँचल में काँटे-ही-काँटे भर दिए, उससे झूठ बोला, फरेब किया नरसिंह के साथ भी। सारी बाते जानकर भी यह नहीं समझ पाता कि कौन जहरीला साँप है जो घाटगे जी के मन में कुंड़ली मारकर फन फैलाए बैठा है तो बायजा बताती है - ''हमेशा भड़कनेवाली आकांक्षा का सर्प ! उसीकी फुंकार के शिकार तुम बने नरसिंह और ... मैं भी...।''[33] बायजाबाई को यह भी पता है कि घाटगे से छिपाकर जिन्सेवाले के आग्रह पर सिंधिया ने उसकी फाँसी रोक दी थी और अब सिंधिया ने उसे यह अधिकार दे दिया है कि वह चाहे तो नरसिंह को मुक्त कर सकते हैं। बायजा उससे पूछती है - नरसिंह जिसके मुक्त होने की कामना कर सकता था अब वह भी उसकी नहीं रही। वह बायजाबाई से कहता है - ''रिहाई ! महारानी किस जीवन के

लिए रिहाई ? किस नियामत के लिए रिहाई ? जिसे तुम रिहाई कहती हो वह मेरा कारागार होगी।.... बायजाबाई इस तहखाने का आकाश सीमाहीन है इसकी टिमटिमाती ज्योति में सहस्त्रों सूर्य भासमान हैं। क्या तुम भी नहीं समझोगी मेरी इस सीधी, गहरी बात को ?''[34]

शारदीया (बायजाबाई) सभी बाते समझती है और जब वह वापस लौटने के लिए निकलती है तो नरसिंहराव उसे पंचतोलिया साड़ी भेंट कराता है और कहता है - ''अपना वायदा पूरा करने के लिए तुमने कहा था न ? आज.... आज वह तिथि आई है। याद है ? उस शरद पूर्णिमा को तुमने अपनी उंगली के खून से मुझे टीका दिया था। ....मैं उस रक्त की बूँद को भूला नहीं था, बायजाबाई आज मैं तुम्हें विदा दे रहा हूँ.... तुम्हारे टीके ने मुझे बचाया और ... यह साड़ी.... यह मेरा रक्तदान... यह अंचल.... यह तुम्हारे नए जीवन में तुम्हारी रक्षा करे।''[35]

दर्द से टूटी बिखरी बायजा आखिरी बार नरसिंह को साथ चलने को कहती है, पर नरसिंह फैसला कर चुका है - ''मैं यही रहूँगा, क्योंकि तुम यहीं हो महारानी नहीं बायजाबाई नहीं, लेकिन तुम ! तुम मेरी शारदीया। मेरी शारदीया..... तुम जो मेरी हो, हमेशा थी हमेशा रहोगी।''[36]

नरसिंहराव का बायजाबाई के प्रति प्रेम अब पूर्णत: अशरीरी हो गया है; पूर्णत: निर्विशेष, निर्विकल्प। न महारानी के शरीर से न बायजाबाई के शरीर से ही वह जुड़ा है उसका प्रेम तो अब एक भाव बन चुका है।

कथावस्तु समीक्षा -

प्रस्तुत नाटक शारदीया ऐतिहासिक कथासूत्र पर आधारित नाट्य कृति है। माथुरजी ने इतिहास की विषय वस्तु पर नाटक लिखने के बजाय इतिहास को अपनी कल्पना का केंद्रबिंदु माना है। स्वयं नाटककार ने शारदीया के प्राक्कथन में कहा है कि उनको यह नाटक लिखने की प्रेरणा नागपुर म्यूजियम में एक असाधारण वस्त्र देखने से मिली। वे कहते हैं - 'मन और तन को अंधेरे और घुटन के बंधन में जकड़नेवाले उस कारागार में इस कलाकार बंदी को किस अजस्त्र सौंदर्य से प्रेरणा के विरामहीन घूंट मिले - इस प्रश्न ने मेरी कल्पना को उत्तेजित किया और तभी नरसिंहराव और उसकी प्रेयसी की काल्पनिक मूर्तियां सजीव हो गई। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नाटककार ने अपनी कल्पना चित्रित करने के लिए इतिहास का आधार लिया है।

कथावस्तु के आधार पर शारदीया नाटक की कथावस्तु मिश्र कथावस्तु मानी जाती है। इसमें हमें इतिहास और कल्पना दोनों प्रकार की कथाएँ दिखाई देती है। नाटक में चित्रित सभी पात्र ऐतिहासिक दिखाई देते हैं। नाटक की कथावस्तु संक्षिप्त है तथा उसमें मौलिकता एवं रोचकता भी है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक में मुख्य कथा से संबंध रखनेवाली कुछ सहायक कथाएँ भी हैं। नरसिंहराव और बायजाबाई के प्रेम की कथा के साथ संबंध रखनेवाली दौलतराव सिंधिया की कथा, खर्दा युद्ध की कथा, तथा शर्जेराव उर्फ सखाराम घाटगे की अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ति की कथा आदि कथाएँ प्रस्तुत हैं। जो नाटक के साथ पताका और प्रक्ररी रूप में संबंध रखती है।

प्रस्तुत नाटक के प्रारंभ में प्रेमी-प्रेमिका युद्ध में भाग लेने के लिए विदा लेते हैं। दैहिक रूपाकर्षण, सत्संग के सहजात प्रेम से घटना का प्रारंभ, वियोग में प्रेम की परीक्षा तथा परिपक्वता में विकास तथा उदात्त प्रेम में नाटक का अंत होता है। इस तरह नाटककार ने प्रारंभ मध्य और अंत में बायजाबाई और नरसिंह का प्रेम चित्रित करने की कोशिश की है।

नाटककार ने नाटक की कथावस्तु में संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न की हैं जो नाटक की कथावस्तु को रोचक और आनंददायी बनाती है। पाश्चात्य दृष्टिकोण नाटकीय कथावस्तु में अंतर्द्वंद्व और बाह्य द्वंद्व का पक्षधर है, क्योंकि जहाँ नायक को बाह्य संघर्षों में रत दिखाया जाता है वहाँ उसका अंतर्द्वंद्व भी चित्रित होता है। नरसिंहराव जिस समय युद्ध में भाग लेता है तथा बंदी बनाया जाता है। इस बाह्य संघर्ष के साथ उसका अंतर्द्वंद्व भी चित्रित किया गया है। अपने प्रेम के लिए ही वह हर समय छटपटाता है। नाटक में स्थान-स्थान पर संघर्ष की स्थितियाँ निर्माण की हैं जैसे निजाम मराठा युद्ध, शर्जेराव को अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ति के लिए कूटनीति अपनाना, नरसिंह को बंदी बनाना।

नाटककार जगदीशचंद्र माथुर ने प्रस्तुत नाटक में रस-योजना की पूर्ति की है। इसमें वीर एवं रौद्र रस के उदात्त रूप की सफल अभिव्यंजना हुई है। नाटक में बायजाबाई और नरसिंहराव का प्रारंभ से अंत तक प्रेम दिखाई दिया है। इस कारण उसमें शृगांर रस भी दिखाई देता है। नाटक में वीर, शृगांर और रौद्र तीनों रसों का सफल परिपाक हुआ है। अपनी इस सुंदर रस योजना के कारण नाटकीय कथावस्तु बड़ी मार्मिक एवं सहज संवेदनीय बन सकी है और उसमें संप्रेषणीयता की अभिवृद्धि हुई है।

नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रस्तुत नाटक के कथानक में पाँच अर्थप्रकृतियाँ, पाँच कार्यावस्थाएँ और पाँच संधियाँ इनका समायोजन ठीक ढंग से हुआ है।

अंत में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु में मौलिकता संक्षिप्तता एवं रोचकता दिखाई देती है। इसमें आई अवांतर घटनाएँ मुख्य कथा के साथ सुसंबंद्ध है तथा कथानक का आदि मध्य और अंत स्पष्ट और प्रभावशाली है। इसमें पात्रों की संख्या सीमित है। रस एवं संघर्ष की स्थितियाँ भी प्रस्तुत कथावस्तु में ठीक स्थान और समय पर हुई है। इन सभी के कारण 'शारदीया' एक सफल एवं सशक्त नाटक है।

13656

संदर्भ सूची

1. धनंजय, 'दशरूपकम्', प्रथम प्रकाश कारिका - 68
2. गिरिजासिंह, हिंदी नाटकों की शिल्पविधि, पृ. 52
3. जगदीशचंद्र माथुर, कोणार्क, पृ. 26
4. वही, पृ. 48
5. वही, पृ. 58
6. वही, पृ. 77
7. वही, पृ. 81
8. जगदीशचंद्र माथुर, पहला राजा, पृ. 44
9. वही, पृ. 46
10. वही, पृ. 37
11. वही, पृ. 38
12. वही, पृ. 59
13. वही, पृ. 97
14. डा. ज्ञानराज गायकवाड, आधुनिक हिंदी नाटकों में संघर्ष तत्त्व, पृ. 110
15. डा. इंद्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिंदी साहित्य, पृ. 209
16. गोविंद चातक, नाटककार जगदीशचंद्र माथुर, पृ. 44
17. जगदीशचंद्र माथुर, शारदीया, पृ. 5-7 (प्राक्कथन)
18. वही, पृ. 27-28
19. वही, पृ. 34
20. जगदीशचंद्र माथुर, शारदीया, पृ. 33
21. वही, पृ. 33
22. वही, पृ. 33
23. वही, पृ. 34

24. जगदीशचंद्र माथुर, शारदीया, पृ. 44
25. वही, पृ. 50
26. वही, पृ. 50
27. वही, पृ. 74
28. वही, पृ. 82
29. वही, पृ. 85
30. वही, पृ. 101
31. वही, पृ. 107
32. वही, पृ. 108
33. वही, पृ. 111
34. वही, पृ. 112
35. वही, पृ. 113-114
36. वही, पृ. 114